साहित्य के आसपास

गोपाल प्रधान

साहित्य के आसपास

गोपाल प्रधान

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: अगस्त, 2025

© गोपाल प्रधान

अनुक्रम

भूमिका	3
इन हथियारों की जरूरत अब भी है	5
अंबेडकर का जीवन और चिंतन	39
पंजाब, युद्ध और विभाजन (उदास नस्लें)	56
आलोचना की सामाजिकता	77
जनमत कम्यून	87
कविता की स्वायत्त समृद्धि	92
सिद्ध–नाथ साहित्य का महत्व	100
दिनेश जी से दोस्ती	108
‘कविता, विचारधारा, साहित्य आदि के सवाल’ हेतु कुछ प्रश्न	118
गोरख का भोजपुरी संसार	131
‘दर्शन दिग्दर्शन’ में दर्शन का विकास	144
दर्शन में इस्लाम बरास्ते राहुल	159
धूमिल की कविता नक्सलबाड़ी	172
प्रेमचंद का स्त्री चित्रण	180

भूमिका

इसमें ज्यादातर पुरखों की आवाजें हैं। ये आवाजें अनेक तरह की हैं। कुछ जोर से सुनायी देती हैं तो कुछ बहुत मद्धम हैं। कुछ ऐसी हैं जो पहले माद्धम थीं और समय पाकर मुखर हुई हैं। इसको ही बदलाव कहते हैं 'जो आज साहिबे मसनद हैं कल नहीं होंगे'। जो आज मद्धम हैं कल मुखर होंगी। इनमें कुछ पुराने पेड़ हैं जो बीज गिरा रहे हैं। कुछ बीज हैं जो धरती के नीचे अंखुआ रहे हैं। दो साक्षात्कार हैं जो सवाल भेजकर लिये गये। पहले और आखिरी दो लेख बहुत पहले लिखे गये लेकिन उनमें फिर कुछ जोड़ा गया। इस बहुरंगी छटा को समय ने एक जगह बांध दिया है। दोनों ही अर्थों में मतलब इनका लिखना हाल के दिनों में हुआ और दूसरा कि इन पर वर्तमान का दबाव नजर आएगा। समय ऐसी गति है जिसमें प्रवाह खंडित नहीं होता इसलिए वह अपने भीतर अतीत के साथ आगत को भी लिये रहता है। इससे बाहर रहने का दावा कोई भी नहीं कर सकता।

जैसे समय वैसे ही साहित्य भी तरल होता है। शायद ही कोई ऐसा लिखे जिसे शुद्ध साहित्य कह सकते हैं। उसके साथ आसपास की मिलावट लगी रहती है। मिलावट से वस्तुओं में गिरावट ही नहीं आती, बहुधा वे नयी चमक भी प्राप्त कर लेती हैं। समय, साहित्य और समाज में केवल अनुप्रास नहीं है, बहुधा इनको अलग करना कठिन हो जाता है। हमारा समय अग्निगर्भा है। आसमान के साथ जमीन से भी आग निकल रही है। ऊपर से शासक तो नीचे से लोगों की जिद ने आपसी टक्कर से इस माहौल को गरमी दी है।

आशंका से भरा यह समय बेहद सृजनात्मक भी है। हास्य ने बहुत दिनों बाद इतने बड़े पैमाने पर लोकप्रियता पायी है। सब कुछ इस कदर क्रूरतापूर्ण और हास्यास्पद हो गया है कि त्रासदी केवल पर्यावरण की नजर आती है।

पदाधिकारी सचमुच पद के अधिकारी हो गये हैं। जाली डिग्रियों के खरीदार संस्थाओं के संचालक की भूमिका निभा रहे हैं। रोने से डर लगता है तो लोग हंस ले रहे हैं। शासकों का काम जनता का मनोरंजन रह गया है। सवाल पूछना सबसे भारी गुनाह हो गया है। यही अपराध तो था जिसके लिए सुकरात को जहर पीना पड़ा था। न्यायालय भी सुकरात को सजा देने वालों के निशानों का अनुगमन कर रहे हैं। कई देशों के शासकों में फिर से खुद को ईश्वर का प्रतिनिधि समझने की होड़ चल रही है। मानवता ने मानो प्रगति से थककर पीछे लौटने का अभियान छेड़ रखा है। पत्रिकाओं की मांग के अतिरिक्त इन्हीं चीजों ने यह सब लिखवाया है। दबाव के कारण सम्भव है सब कुछ सही न रह गया हो। इन सबके लेखन के पीछे की कहानियों को जानने से कोई खास लाभ न होगा। कहने की जरूरत नहीं कि यह सब लम्बी लड़ाई का हिस्सा है। न उनकी रस्म नयी है न अपनी रीत नयी।

इन हथियारों की जरूरत अब भी है

हिंदी के मशहूर कथाकार अमरकांत के राजकमल से 2003 में पहली बार प्रकाशित उपन्यास 'इन्हीं हथियारों से' को साहित्य अकादमी पुरस्कार तो मिल गया लेकिन यह एक तरह से उसे चर्चा से बाहर करने की रणनीति के बतौर नजर आया। इसे सम्मान के लायक तो समझा गया लेकिन मानदंड के निर्धारण के लिए असुविधाजनक समझकर हिंदी के बौद्धिक समाज ने खामोशी भरी चुप्पी अपनाई। आखिर इस चुप्पी का समाजशास्त्र है क्या ? एक तो यह हो सकता है कि किसी भी रचना के बारे में गंभीरता से बात करने का चलन खत्म हो जाने से ऐसा हुआ हो। गंभीर आलोचना की संस्कृति पर प्रहार किये बिना नेता के प्रति भक्ति और समर्पण का माहौल बनाना मुश्किल होता है। इसकी उपेक्षा का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि अमरकांत के इस उपन्यास को कथावस्तु और शिल्प के स्तर पर वर्तमान फ़ैशन के खिलाफ़ महसूस किया गया हो और इसलिए इस पर बात भी करना उचित माना गया हो। इस कारण के ही सक्रिय होने की अधिक आशा की जा सकती है। लगता तो ऐसा ही है और यह बेहद गंभीर समस्या है। इससे पता चलता है कि प्रेमचंदीय वस्तु और शिल्प से हिंदी कथा साहित्य की एक समय निर्मित असामाजिक समझ ने जो किनारा किया उसके पीछे केवल कला पर रीझने का चलन नहीं था, औपनिवेशिक हालात की मौजूदगी से इनकार करने की शुतुरमुर्गी हड़बड़ी भी थी। आजादी मिलने के साथ ही उपनिवेशवाद को

लगभग समाप्त मानकर उत्तर औपनिवेशिक वातावरण की बात करने की जल्दी मचाई जाने लगी थी।

यह उपन्यास न सिर्फ़ विषयवस्तु के स्तर पर बल्कि भाषा के स्तर पर भी प्रेमचंदीय विरासत को आगे बढ़ाता है और सही मायनों में उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श का निर्माण करता है। यहीं एक दूसरी समस्या के बारे में भी बात करना अनुचित न होगा । हिंदी में साहित्य को समाजशास्त्रीय रूप से उपयोगी मानने के खिलाफ़ एक दुराग्रहपूर्ण अभियान चलाया गया है जि सके चलते किसी रचना की खूबसूरती की बात इस तरह की जाती है मानो सामाजिक उपयोग और सुंदरता में मौलिक और असमाधेय विरोध हो । मानो सामाजिक तौर पर अनुपयोगी होना ही कलात्मक श्रेष्ठता का पैमाना हो । इस धारणा ने साहित्य की समझ में उसके उद्देश्य से ध्यान हटाया है। रचनाओं की संरचना और बुनावट की चर्चा इस तरह की जाती है जैसे उसे पढ़ने और प्रेरणा लेने के मुकाबले केवल सराहने के लिए लिखा जाता हो । यह काम देश की उस भाषा में किया गया जिसके साथ उपनिवेशवाद के विरोध की लम्बी परम्परा जुड़ी थी और जिसके सबसे बड़े लेखक ने अपने उपन्यास लेखन को आज़ादी की लड़ाई का अंग माना था। यह दुराग्रह इतना गहरा था कि समाजशास्त्रीय नजरिये को कुत्सित का विशेषण भी दिया गया। इसी चक्कर में ऐतिहासिक घटनाओं या व्यक्तित्वों से जुड़े हुए उपन्यासों की आमद को उपन्यासहीनता का दावा करके विचार लायक ही नहीं मा गया, जबकि हम सभी जानते हैं कि उपन्यास के शिल्प का लचीलापन ही उसकी ताकत है। एक जमाने में जिस तरह कविता के भीतर साधारण के